दैनिक जागरण

Date:15-07-23

एक बार फिर सवालों के घेरे में सीसैट

डा. विजय अग्रवाल, (लेखक पूर्व सिविल सेवक हैं)

सिविल सेवा प्रारंभिक परीक्षा के एप्टीट्यूड टेस्ट यानी सीसैट वाले प्रश्नपत्र को लेकर एक बार फिर विरोध के स्वर मुखर हैं। छात्र इसके विरोध में आवाज उठा रहे हैं। कुछ सांसद भी मांग कर रहे हैं कि परीक्षा में पैटर्न से बाहर के सवाल पूछे गए थे, इसलिए पासिंग मार्क्स घटाए जाएं। इसी सिलसिले में एक याचिका का संज्ञान लेते हुए दिल्ली उच्च न्यायालय ने सिविल सर्विसेज एप्टीट्यूड टेस्ट अर्थात सीसैट-2023 के कटआफ को कम करने की मांग पर जल्द निर्णय लेने को कहा है। याचिका में मांग की गई है कि सीसैट प्रश्नपत्र कटआफ 33 से 23 प्रतिशत किया जाए। हालांकि संघ लोक सेवा आयोग (यूपीएससी) ने सीसैट प्रश्नपत्र के प्रश्नों का स्तर दसवीं कक्षा के स्तर तक होने की बात कही है, लेकिन इस वर्ष के प्रश्नों का स्तर वैसा नहीं पाया गया। छात्रों का रोष मुख्यतः इसी पर है। भले ही सीसैट प्रश्नपत्र क्वालीफाइंग ही क्यों न हो, लेकिन इसमें न्यूनतम 33 प्रतिशत अंक लाना तभी संभव हो सकेगा, जब परीक्षार्थी बहुत अच्छा हो।

वर्ष 2011 से ही सिविल सेवा परीक्षा का सीसैट प्रश्नपत्र लगातार विवादों और संदेह के घेरे में है। किसी भी प्रश्नपत्र का इतिहास इस जैसा बुरा नहीं रहा। इस प्रश्नपत्र को लेकर मुख्यतः दो प्रश्न उठाए जाते रहे हैं। पहला, अच्छे प्रशासकीय मस्तिष्क एवं व्यक्तित्व वाले युवाओं के चयन में सीसैट के प्रश्नपत्र की व्यावहारिक भूमिका को लेकर। दूसरा इस प्रश्नपत्र के औचित्य को लेकर कि कहीं ऐसा तो नहीं कि इसे किसी वर्ग विशेष को अतिरिक्त लाभ पहुंचाने के लिए लाया गया हो? प्रारंभिक परीक्षा मूलतः एक प्रवेश द्वार की तरह है, जो मुख्य परीक्षा तक पहुंचाने का काम करता है। इसे हम 'छंटनी का चरण' कह सकते हैं, लेकिन इस चरण में ही सीसैट प्रश्नपत्र को इतना कठिन कर दिया गया है कि इस बार की प्रथम रैंक पर आई ईशिता किशोर इससे पहले की अपनी दो परीक्षाओं में प्रारंभिक स्तर को ही पार नहीं कर पाई थीं। 26वीं रैंक वाली गुंजिता अग्रवाल इस प्रश्नपत्र को पांचवीं बार में क्वालीफाई कर पाईं। इस हादसे के शिकार अधिकांश परीक्षार्थी हो रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रारंभिक एवं मुख्य परीक्षा के मानसिक परीक्षण में परस्पर सामंजस्य का नितांत अभाव है।

प्रशासनिक परीक्षण की दृष्टि से मुख्य परीक्षा महत्वपूर्ण है, प्रारंभिक नहीं, लेकिन उसे गणित का सहारा लेकर अति महत्वपूर्ण बना दिया गया है। अपने संपूर्ण उच्च स्तरीय और संवेदनशील दायित्वों के निर्वाह के दौरान मुझे ऐसे गणितीय ज्ञान की जरूरत कभी नहीं पड़ी। इसके लिए मेरे पास हमेशा वित्त के विशेषज्ञ रहे। शायद यूपीएससी यह भूलती जा रही है

कि प्रशासकों के रूप में उसे विशिष्ट विशेषज्ञों की भर्ती नहीं करनी होती। सीसैट समर्थक इसे 'बेस्ट ब्रेन' की कसौटी मानकर इसका समर्थन करते हैं। प्रश्न है कि प्रशासन के लिए 'बेस्ट ब्रेन' किसे कहा जाएगा? पिछले 53 वर्षों से अर्थशास्त्र का नोबेल पुरस्कार दिया जा रहा है। क्या एक भी ऐसा उदाहरण है कि इस पुरस्कार विजेताओं में से कोई श्रेष्ठ उद्यमी बना हो? आइंस्टीन को जब इजरायल का राष्ट्रपति बनने का प्रस्ताव मिला था, तब उन्होंने उसे यह कहकर ठुकरा दिया था कि 'मैं उसके लायक नहीं हूं।' क्या हमारे महान गणितज्ञ रामानुजन एक सफल डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट बन सकते थे?

यूपीएससी द्वारा जारी वार्षिक रिपोर्ट साफ तौर पर बताती हैं कि वर्तमान परीक्षा प्रणाली का झुकाव पूरी तरह से इंजीनियर्स की ओर है, जिसे वह सीसैट के माध्यम से पूरा करती है। 2021-22 की रिपोर्ट के अनुसार सफल होने वाले कुल छात्रों में 64.9 प्रतिशत इंजीनियर्स थे। अगले वर्ष उनका प्रतिशत 70 हो सकता है। कारण यह कि सीसैट प्रश्नपत्र दूसरों के लिए अत्यंत कठिन होता है, किंतु इंजीनियर्स के लिए कहीं आसान। यदि संघ लोक सेवा आयोग प्रारंभिक परीक्षा में सफल होने वालों का भी प्रोफाइल-डाटा दे, तो यह साफ हो जाएगा कि अन्य विषयों के युवा प्रारंभिक स्तर पर ही बाहर हो जाते हैं। सीसैट का जो प्रश्नपत्र तैयार किया जाता है, उससे भी यह झुकाव साफ-साफ दिखता है। इसके पाठ्यक्रम में कुल सात विषय हैं। इनमें से इस वर्ष केवल दो विषयों से कुल 80 में से लगभग 65 प्रश्न पूछे गए। 65 में से भी करीब 40 प्रश्न हायर मैथ्स से थे। तार्किक एवं विश्लेषणात्मक क्षमता और सामान्य मानसिक योग्यता वाले प्रश्न लगभग 12 थे, जो सभी के लिए सामान्य होते हैं। पाठ्यक्रम में संचार कौशल, निर्णयन और समस्या समाधान जैसे विषय भी शामिल हैं, लेकिन इनसे आज तक प्रश्न नहीं पूछे गए। चार्ट, ग्राफ, तालिका आदि पर प्रश्न सिरे से गायब थे। आखिर ऐसा क्यों? क्या इसलिए कि इन प्रश्नों को अन्य परीक्षार्थी भी हल करने की स्थिति में होते हैं?

सीसैट के क्वालीफाइंग मार्क्स हैं-33 प्रतिशत। चयन सामान्य ज्ञान के प्रश्नपत्र के आधार पर होता है। पिछले वर्ष इस प्रश्नपत्र में अनुसूचित जनजाति के लिए कटआफ मार्क्स 34.68 प्रतिशत थे, लेकिन उन्हें भी सीसैट में 33 प्रतिशत स्कोर करना था, अन्यथा उनके सामान्य ज्ञान की पुस्तिका का मूल्यांकन ही नहीं होता। क्या इन दोनों प्रश्नपत्रों के स्कोर का लगभग समान हो जाना इस पर पुनर्विचार करने की जरूरत के लिए पर्याप्त आधार नहीं? सीसैट को लेकर गठित निगवेकर समिति ने इस प्रश्नपत्र को स्पष्ट तौर पर शहरी परीक्षार्थियों के अनुकूल और ग्रामीण परीक्षार्थियों के प्रतिकूल बताया था, लेकिन संघ लोक सेवा आयोग है कि वह इस प्रश्नपत्र को सबके लिए 'लेवल प्लेइंग फील्ड' वाला बनाने के बजाय साल दर साल एक वर्ग विशेष के पक्ष वाला बनाता जा रहा है। आखिर ऐसा अन्याय कब तक चलता रहेगा?

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:15-07-23

नए-पुराने की ओर वापसी

टी एन नाइनन

भारत में सन 1991 और उसके बाद हुए आर्थिक सुधार दरअसल घरेलू तथा वैश्विक स्तर पर मुक्त बाजार में किए गए निवेश ही थे। ये सुधार रोनाल्ड रीगन और मार्गरेट थैचर के युग के उन विचारों से प्रभावित थे कि अर्थव्यवस्था में सरकार की भूमिका कम होनी चाहिए। इसके लिए घरेलू तौर पर एक शब्द गढ़ा गया एलपीजी यानी उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण (लिबरलाइजेशन, प्राइवेटाइजेशन और ग्लोबलाइजेशन)। हालांकि इसे चरणबद्ध ढंग से और वह भी केवल आंशिक रूप से लागू किया गया लेकिन मान्यता यह थी कि बाजार की ओर ज्यादा झुकाव भारत के लिए लाभदायक साबित होगा। ऐसा हुआ भी और हमें तेज आर्थिक वृद्धि, धीमी मुद्रास्फीति और बेहतर व्यापार संतुलन के साथ बाहरी आर्थिक व्यवहार्यता हासिल हुई।

परंतु विनिर्माण को अपेक्षित गति न मिलने, गुणवत्तापूर्ण रोजगार तैयार नहीं कर पाने और असमानता में इजाफा होने से इसे लेकर मोहभंग की स्थिति भी बढ़ी है। इसके अलावा व्यवस्थागत दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उत्पादों और सामग्री को लेकर चीन पर निर्भरता भी बढ़ी। सौर ऊर्जा, बिजली चालित वाहन आदि के सहारे पर्यावरण के अनुकूल बनने की चाह भी इससे जुड़ी हुई है। प्रतिक्रियास्वरूप व्यापार को लेकर अधिक प्रतिबंधात्मक रुख अपनाया गया, मसलन शुल्क दरों में इजाफा, नए गैर शुल्कीय अवरोध, चीनी उत्पादों पर प्रतिबंध आदि। इसके साथ ही सरकार द्वारा निर्देशित औद्योगिक निवेश की स्थिति निर्मित हुई। इस अंतिम उपाय में तमाम नीतिगत उपकरणों का इस्तेमाल हुआ। मिसाल के तौर पर: निवेश सब्सिडी, उत्पादन प्रोत्साहन, टैरिफ संरक्षण और कारोबारी घरानों का संरक्षण। यह सन 1991 से पूरा उलट नहीं है बल्कि केवल दिशा में परिवर्तन है। खासतौर पर इसलिए कि वे सुधार कभी पूरे ही नहीं हुए। सरकार की भूमिका छोटी नहीं हुई बल्कि बढ़ी है। महत्त्वपूर्ण बात है कि यह पश्चिम से बह रही नई हवा से जुड़ता है। अमेरिका में तथा अन्य स्थानों पर विनिर्माण के खत्म होने ने ऐसे ही नतीजे पेश किए हैं: गुणवत्तापूर्ण रोजगार की क्षति, बढ़ती असमानता और चीन को लेकर संवेदनशीलता। ऐसे में राजनीति लोकलुभावन हो गई है और अर्थव्यवस्था राष्ट्रवादी। मुक्त व्यापार के पुराने पुरोधा ने राष्ट्रपति ट्रंप के कार्यकाल में 'अमेरिका प्रथम' के नारे के साथ राह दिखाई और बाइडन ने नई पुरानी नीतियों के साथ व्यापार समझौतों का पुनर्लेखन किया, बड़े पैमाने पर निवेश प्रोत्साहन दिया और रणनीतिक उद्योगों को स्थानीयकृत करने का प्रयास किया। इसके समांतर चीनी वस्तुओं के विरुद्ध आयात अवरोध बढ़े हैं, साथ ही चीन को सामरिक तकनीकों के हस्तक्षेप पर रोक लगी है।

इसके प्रतिक्रियास्वरूप यूरोप से लेकर पूर्वी एशिया तक प्रमुख कंपनियों ने अमेरिका जाने की होड़ लगा दी और वहां दो वर्षों में विनिर्माण में निवेश दोगुना हो गया। उन क्षेत्रों के देशों ने विरोध किया था लेकिन अब निवेश सब्सिडी और चीन पर प्रतिबंध के मामले में वे अमेरिका का अनुसरण कर रहे हैं। चीन ने इसकी प्रतिक्रिया में चेतावनी दी और गैलियम तथा जर्मेनियम के निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया। इनका इस्तेमाल इलेक्ट्रॉनिक्स, बिजली से चलने वाले वाहनों और दूरसंचार क्षेत्र में होता है। आपको बता दें कि भारत इन पदार्थों का तीसरा बड़ा आयातक है। परंतु चीन मुक्त बाजारों में पहुंच की मांग कर रहा है क्योंकि बिजली से चलने वाले वाहनों सहित दुनिया के लिए जरूरी लगभग हर अहम क्षेत्र में उसका व्यापार अधिशेष है।

सरकारें चीन से खरीद से बचने के लिए जो राशि चुका रही हैं वह बहुत अधिक है। अमेरिका और यूरोप में हर बिजली चालित वाहन पर दी जाने वाली सब्सिडी करीब 7,500 डॉलर है। इंटेल को जर्मनी ने 10 अरब डॉलर की प्रोत्साहन राशि दी है ताकि वह चिप संयंत्र स्थापित कर सके। जनरल इलेक्ट्रिक जैसी कंपनियां जो विनिर्माण पर जोर देना छोड़ चुकी थीं वे वापस इस क्षेत्र में आ रही हैं। अहम क्षेत्रों की नई विनिर्माण इकाइयों में सैकड़ों अरब डॉलर का निवेश होने की संभावना है।

क्या ये नीतियां कारगर होंगी? एक खतरा यह है कि अतिरिक्त क्षमता निर्मित हो जाएगी और फिर संभव है कारोबारी जंग छिड़ जाए। बंटे हुए, सब्सिडी वाले तथा संरक्षित बाजारों में इसका क्या असर होगा? या फिर क्या शुल्कों में इजाफा उत्पादों को और महंगा बनाकर मुद्रास्फीति में योगदान करेगा? हालांकि चीन से दूरी बनाने की बात ने जोखिम को कम करने और विविधता बढ़ाने जैसे लक्ष्यों को दोहराने का मार्ग प्रशस्त किया है। ऐसे में जैसे को तैसा जैसे कदमों का खतरा भी है और पड़ोसी देशों को नुकसान पहुंचाने वाली नीति तथा अधिक सरकारी ऋण का जोखिम तो है ही। ऐसे में आवश्यक नहीं कि पश्चिम से चली लहर पूर्व के देशों को चपेट में नहीं लेगी बल्कि वह एक तूफान को जन्म दे सकती है। भारत भी अन्य देशों जैसी स्थिति में है लेकिन वह उथले क्षेत्रों से बाहर निकलने के लिए संघर्ष कर रहा है। इसे भी ठीक ही कहा जा सकता है क्योंकि आपूर्ति की विविधता बढ़ाने और जोखिम कम करने (वह भी अत्यधिक) का काम अन्य देश भी कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में भारत आयात प्रतिस्थापन के बजाय रोजगार निर्माण को विनिर्माण का मुख्य लक्ष्य बना सकता है। संभव है कि मोबाइल फोन असेंबलिंग की तरह वह दोनों ही लक्ष्यों को हासिल करने में कामयाब रहे। परंतु भारत को भी बड़ा देश बनने की चाह ने घेर रखा है और वह एक बार फिर आयात प्रतिस्थापन की बैसाखी अपनाने को तैयार नजर आ रहा है।

Date:15-07-23

नीतियों में उलटफेर को तरजीह

नीलकंठ मिश्र, (लेखक ऐक्सिस बैंक में मुख्य अर्थशास्त्री और ऐक्सिस कैपिटल में वैश्विक शोध प्रमुख हैं)

खुदरा महंगाई दर नरम पड़ने के बाद भी अमेरिका, यूरोपीय संघ (यूई) और ब्रिटेन में बॉन्ड प्रतिफल 15 वर्षों के उच्चतम स्तर पर हैं। इसका कारण यह है कि बॉन्ड बाजार भविष्य में महंगाई और कम होने की उम्मीद कर रहा है। अमेरिका और ब्रिटेन में आवास ऋण दरें पिछले साल दर्ज सर्वोच्च स्तर के ही करीब हैं। दो महीने पहले मैंने जिक्र किया था कि राजकोषीय स्तर पर संभावनाएं सीमित रहने के कारण मौद्रिक नीति अत्यधिक कठोर बनाने की आशंका बढ़ गई है। अब यह आशंका परिलक्षित भी होने लगी है। जापान, चीन और भारत जैसी अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय हस्तक्षेप कम हुए थे, इसलिए वहां समस्या अधिक गंभीर नहीं दिख रही है। अमेरिका में एक ढीली राजकोषीय नीति से भी हमें यह समझने में मदद मिलती है कि लंबे समय से जताई जा रही आर्थिक सुस्ती की आशंका अब तक वास्तविकता में तब्दील क्यों नहीं हुई है।

पिछले कुछ दशकों के दौरान कई अर्थशास्त्रियों ने राजकोषीय नीति एवं महंगाई के आपसी संबंध को ओर ध्यान आकृष्ट किया था। सार्जेंट ऐंड वॉलेस ने 1981 में प्रकाशित अपने पत्र 'सम अन्प्लीजेंट मॉनिटरिस्ट अर्थमेटिक' में इस संबंध का जिक्र भी किया था। बैंक ऑफ इंटरनैशनल सेटलमेंट्स का नवीनतम अध्ययन राजकोषीय नीति और महंगाई के आपसी जुड़ाव की बात का समर्थन करता है। इस अध्ययन में कहा गया है कि राजकोषीय घाटे में एक प्रतिशत अंक की वृद्धि से दो वर्षों के दौरान महंगाई 10 से 50 आधार अंक तक बढ़ सकती है। राजकोषीय नीति प्रेरित व्यवस्था में यह प्रभाव अत्यधिक गंभीर होता है। इस व्यवस्था में सरकार ऋण स्थिरता पर कम ध्यान देती है और मौद्रिक नीति मूल्य स्थिरता बहाल करने के लिए ठोस या पर्याप्त कदम नहीं उठाती है।

इसके विपरीत, जब राजकोषीय मोर्चे पर अधिक सूझ-बूझ का परिचय दिया जाता है (यानी जब सरकार एक स्थिर ऋण-सकल घरेलू अनुपात का लक्ष्य निर्धारित करती है) और मौद्रिक नीति स्वतंत्र होती है तब ऊंचे राजकोषीय घाटे का महंगाई पर कम असर होता है। बैंक ऑफ इंटरनैशनल सेटलमेंट्स ने 2011 तक 21 विकसित अर्थव्यवस्थाओं का अध्ययन किया जिनमें केवल एक सक्षम राजकोषीय नीति आधारित थी। हालांकि, जो परिभाषाएं दी गईं उनके आधार पर संपन्न अर्थव्यवस्थाओं में वर्तमान नीति बदतर परिणामों की ओर इशारा करती हैं।

अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) के अनुसार इस वर्ष विकसित अर्थव्यवस्थाओं में राजकोषीय घाटा जीडीपी का 4.4 प्रतिशत तक रह सकता है। यह 2020 में दर्ज जीडीपी के 10.2 प्रतिशत के स्तर से अधिक होगा, मगर 2012 से (कोविड महामारी से प्रभावित अवधि को छोड़कर) सर्वाधिक होगा। ऊंची ब्याज दरों से सरकार पर ऋण बढ़ता है और आने वाले समय में प्राथमिक घाटा (राजकोषीय घाटे में ब्याज भुगतान पर आने वाली लागत घटाने के बाद प्राप्त आंकड़ा) में भी बहुत कमी आने की उम्मीद नहीं की जा सकती है।

यह नीति इसके उलट है जो 2008-09 संकट के बाद प्रभाव में लाई गई थी। उस समय विकसित अर्थव्यवस्थाओं ने लचीली मौद्रिक एवं अधिक कड़ी राजकोषीय नीति का चयन किया था। उस नीति के कुछ अवांछित प्रभावों-रोजगार बाजार में देरी से सुधार और वित्तीय परिसंपत्तियां महंगी होने से वीभत्स होती धन असमानता- ने संभवतः उल्टे दृष्टिकोण को जन्म दिया। अब तक अमेरिका में सबसे नीचे से एक चतुर्थक आबादी के लिए वेतन वृद्धि शीर्ष एक चतुर्थक आबादी की तुलना में अधिक रही है। कम शिक्षित एवं आर्थिक रूप से कमजोर समुदायों के लिए बेरोजगारी दर भी कम हो गई है। इसे देखते हुए राजनीतिक रूप से भी सरकार के लिए राजकोषीय मजबूती तेजी से बहाल करने का कोई तात्कालिक कारण नहीं है। अमेरिकी संसद के बजट कार्यालय (सीबीओ) ने अगले कुछ वर्षों तक राजकोषीय अनुपात वर्तमान दायरे में ही रहने की उम्मीद व्यक्त की है।

इसके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम हो सकते हैं। सबसे पहले, हमें राजकोषीय नीति के भविष्योन्मुखी संकेतकों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए, न कि केवल महंगाई की गति पर नजर बनाई रखनी चाहिए। दूसरी बात, वैश्विक मौद्रिक नीति दीर्घ अवधि तक कड़ी रह सकती है। हम जानते हैं कि ऊंची ब्याज दर के आर्थिक प्रभाव केवल उच्चतम ब्याज दर पर निर्भर नहीं रहते हैं बल्कि उस अवधि पर भी निर्भर करते हैं जिसमें यह (उच्चतम ब्याज दर) ऊंचे स्तरों पर रहती है। अधिकांश विश्लेषकों को लगता है कि ब्याज दर अपने उच्चतम स्तर पर पहुंचने के लगभग निकट पहुंच चुकी है।

कोविड महामारी से पहले के दशक में राजकोषीय समेकन एवं मौद्रिक नीति में ढील से वित्तीय परिसंपत्तियों के मूल्य बढ़ गए थे। इसका परिणाम यह हुआ था कि वैश्विक संपत्ति एवं जीडीपी अनुपात 4.9 प्रतिशत पहुंच गया, जो 2012 में केवल 3.7 प्रतिशत था। जीडीपी आय का आकलन करता है और वित्तीय संपत्ति अधिकांशतः भविष्य की आय से संबंधित होती है। इन दोनों के अनुपात में वृद्धि का एक बड़ा हिस्सा डिस्काउंट रेट में बदलाव का कारण बन सकता है। ऊंची दरें लंबे समय तक रहने से इस अनुपात में कमी आनी चाहिए जिससे आर्थिक वृद्धि और स्थिरता की राह में नई चुनौतियां खड़ी हो सकती हैं। मसलन, धन की उपलब्धता कम रहने से जोखिम लेने की क्षमता कमजोर हो सकती है और परिसंपत्ति और देनदारी में असंतुलन बढ़ सकता है।

नीतिगत प्रभाव भी भिन्न होगा। इसका आशय यह है कि दुनिया की दूसरी अर्थव्यवस्थाओं पर अमेरिका की नीतियों का यह अनपेक्षित प्रभाव होगा। सहज मौद्रिक नीति से उन अर्थव्यवस्थाओं को लाभ होता है जो विदेश से प्राप्त होने वाली

पूंजी पर निर्भर रहती हैं। ये वे देश होते हैं जहां चालू खाते का घाटा अधिक रहता है। वित्तीय प्रोत्साहन जारी रहने से उन देशों को लाभ मिलेगा जिनका अमेरिका के साथ व्यापार अधिशेष रहता है।

मौद्रिक नीति लंबे समय तक कड़ी रहने से थोड़ी अधिक विकसित एवं तेजी से उभरती अर्थव्यवस्थाओं द्वारा लिए गए ऋणों के भुगतान समय पर नहीं होने से उत्पन्न जोखिम बढ़ जाते हैं। जहां तक भारत का प्रश्न है तो पिछले तीन वर्षों से सेवाओं के निर्यात बढ़ने से बाह्य खातों पर निर्भरता कम हो रही है। अमेरिका में वेतन में मजबूत बढ़ोतरी से भारत से सेवाओं के निर्यात को ताकत मिलनी चाहिए। मगर कई अन्य अर्थव्यवस्थाओं के लिए कम और अधिक महंगा डॉलर आर्थिक दबाव लगातार बढ़ाता रहेगा।

भविष्य में अधिक गंभीर चिंता उत्पन्न हो सकती है। अमेरिकी बॉन्ड को लेकर अविश्वास बढ़ना इनमें एक चिंता हो सकती है। फिलहाल इस संभावित स्थिति के बारे में सोचना उचित नहीं होगा और इसलिए भी क्योंकि डॉलर का कोई विश्वसनीय विकल्प मौजूद नहीं है। हालांकि, ब्याज दरें लगातार ऊंचे स्तरों पर बने रहने से ऋण चुकाने की क्षमता से जुड़े सिद्धांतों पर दबाव बढ़ सकता है। कई लोग मानते हैं कि ऋण-जीडीपी में महंगाई प्रेरित गिरावट आएगी। उनका तर्क है कि महंगाई प्रेरित नॉमिनल जीडीपी (महंगाई समायोजन के बिना जीडीपी) में वृद्धि से इस अनुपात में कमी आएगी और ऐसा जीडीपी में बढ़ोतरी के कारण संभव होगा।

हालांकि, अमेरिका में प्राथमिक घाटा स्थिर रहने के बावजूद ब्याज भुगतान में बढ़ोतरी से इस अनुपात के अगले दशक में सतत बढ़ने का अनुमान व्यक्त किया गया है। यह अनुपात 2022 में जीडीपी का 1.9 प्रतिशत से बढ़कर 2033 में जीडीपी का 3.7 प्रतिशत रहने का अनुमान है। 2021 की तुलना में यूरोप में ऋण-जीडीपी अनुपात में कमी आई है मगर अब भी यह कोविड पूर्व अवधि से ऊंचे स्तरों पर है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का अनुमान है कि ऋण को सहज स्तर पर रखने को लेकर विश्वास में कमी महंगाई में बढ़ोतरी का एक प्रमुख कारण है। विकसित अर्थव्यवस्थाओं में अधिक ऋण के बोझ से निपटने का विश्वास इसलिए आया कि वहां ब्याज दरें कम थीं। ब्याज दरें जितनी अवधि तक ऊंचे स्तरों पर रहती हैं ऊंची ब्याज दरों पर रीफाइनैंसिंग का जोखिम उतना ही अधिक रहता है। इसके साथ ही राजकोषीय प्रभुत्व का भी जोखिम रहता है जिससे महंगाई ऊंचे स्तरों पर लगातार बनी रहती है।

कुछ शोधकर्ताओं का मानना है कि 1960 में जिस तरह 'ट्रिफिन दुविधा' (आर्थिक हितों के टकराव के कारण उत्पन्न स्थिति) ने सोना को आधार बनाकर डॉलर का मूल्य तय करने को लेकर प्रश्न खड़े किए और यह अनुमान व्यक्त किया गया कि 1971 में यह पद्धति टूट जाएगी। अब 'नई ट्रिफिन दुविधा' इसे लेकर चिंता उत्पन्न कर सकती है कि क्या अमेरिकी सरकार के बॉन्ड को भविष्य में लागू होने वाले करों से समर्थन मिल सकता है या नहीं। यह इसलिए भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि केंद्रीय बैंक में डॉलर भंडार अपने उच्चतम स्तर पर पहुंच चुका है और गैर-संप्रभु संपत्तियों की हिस्सेदारी बढ़ने का आशय है कि इन परिसंपत्तियों की बाजार समीक्षा करना शुरू कर देगा।

जनसत्ता

Date:15-07-23

संभावनाओं का आकाश

संपादकीय

ब्रह्मांड अब केवल जिज्ञासा का विषय नहीं, बल्कि विज्ञान ने इसकी संभावनाओं को खंगालना शुरू कर दिया है। दुनिया अब दूसरे ग्रहों पर मानव बस्तियां बसाने की होड़ में है। सौरमंडल के ग्रहों में चंद्रमा पर संभावनाओं का काफी कुछ अध्ययन किया जा चुका है, मगर उसके बहुत सारे रहस्य अभी खुलने बाकी हैं। हालांकि मानव बस्तियां बसाने की दृष्टि से सबसे अनुकूल वातावरण वहीं का माना जाता है। इसी सिलसिले में दुनिया के अनेक देश अपने अंतरिक्ष यान चंद्रमा पर भेजते रहते हैं। पांच अगस्त को चंद्रमा की कक्षा में प्रवेश करेगा चंद्रयान-तीन भारत ने भी इसी मकसद से चंद्र मिशन की शुरुआत की थी। इस क्रम में अभी चंद्रयान-तीन को चंद्रमा की तरफ रवाना कर दिया गया है। पांच अगस्त को यह यान चंद्रमा की कक्षा में प्रवेश करेगा और आखिरी हफ्ते में उसके चंद्रमा की सतह पर उतरने की संभावना है। हालांकि चंद्रयान-तीन की रवानगी से पहले तरह-तरह की आशंकाएं जताई जा रही थीं, क्योंकि चंद्रयान-दो तकनीकी खामियों के चलते चंद्रमा की सतह पर उतर नहीं पाया था। उसे विफल मिशन माना गया। मगर इस तीसरे यान के पूरी तरह सफल होने का भरोसा जताया जा रहा है। पिछले यान में रह गई तकनीकी खामियों को इस बार सुधार दिया गया है, इसलिए इस मिशन से जुड़े वैज्ञानिक अधिक निश्चिंत नजर आ रहे हैं।

दरअसल, अंतरिक्ष यानों को किसी ग्रह पर उतारना अनिश्चितताओं का खेल होता है। चंद्रयान का संपर्क धरती के कंप्यूटर से जरूर रहेगा, मगर लगभग चार लाख किलोमीटर दूर से उसे नियंत्रित करना संभव नहीं होगा। उसे अपनी कृत्रिम मेधा से ही स्थितियों और चंद्रमा की सतह आदि का आकलन करते हुए खुद स्थापित होना होगा। पिछली बार के मिशन को भी पूरी तरह विफल नहीं कहा जा सकता। दरअसल, उसके तीन हिस्से थे- आर्बिटर, लैंडर और रोवर। तकनीकी गड़बड़ी के चलते रोवर नहीं खुल पाया, जिसे चंद्रमा की सतह पर रेंगते हुए वहां की मिट्टी, पानी, खनिज आदि के बारे में अध्ययन करना था। भारत की अंतरिक्ष यात्रा का नया अध्याय, 23 अगस्त को चंद्रमा पर लैंड करेगा चंद्रयान-3 उसका आर्बिटर अब भी चंद्रमा की कक्षा में चक्कर काट रहा है। इसलिए चंद्रयान-तीन में आर्बिटर नहीं भेजा गया है। सिर्फ रोवर और लैंडर भेजे गए हैं। हालांकि इस बार भारत ने चंद्रमा के जिस हिस्से को अध्ययन के लिए चुना है, वहां चुनौतियां अधिक हैं, मगर वहां संभावनाओं का आकाश बड़ा है। वहां खनिज, पानी और अन्य मानवीय जरूरतों से जुड़ी चीजों की संभावना अधिक है। इसलिए उस हिस्से में रोवर पहुंचता है, तो उसके जरिए किया गया अध्ययन अधिक उपयोगी साबित होगा।

रोवर दरअसल, एक छोटा-सा रोबोट है, जो चलते-फिरते चंद्रमा की सतह के नमूने लेकर उसका विश्लेषण करेगा और धरती तक उसके ब्योरे भेजेगा। चंद्रमा की सतह पर अपने यान उतारने में अभी तक दुनिया के कुछ ही देश कामयाब हो पाए हैं, जिनमें अमेरिका, रूस और चीन शामिल हैं। इस तरह भारत अंतरिक्ष अनुसंधान के क्षेत्र में इन महाशक्तियों से कंधे से कंधा मिला कर खड़ा हो सकेगा। चंद्रयान की खासियत यह भी है कि यह पूरी तरह स्वदेशी तकनीक से तैयार किया गया है। वैसे भी अंतरिक्ष यानों के प्रक्षेपण के मामले में भारत दुनिया के तमाम विकसित देशों को टक्कर दे रहा है और उसने अपनी तकनीक के बल पर सस्ती सेवाएं उपलब्ध कराने लगा है। चंद्रयान मिशन की कामयाबी अंतरिक्ष अध्ययन में एक नया कीर्तिमान रचेगी। देशों की ताकत केवल अर्थव्यवस्था, व्यापार और सामरिक शक्ति से नहीं आंकी

जाती, उसकी वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियां भी इसका मानक होती हैं। भारत इस दिशा में कामयाबी हासिल कर रहा है।

Date:15-07-23

सुरक्षा परिषद में बदलाव की जरूरत

सुशील कुमार सिंह

संयुक्त राष्ट्र के संस्थापक सदस्यों में भारत भी शामिल था। अब तक यह संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद का आठ बार सदस्य रह चुका है। आखिरी बार 2021-22 में अस्थायी सदस्य बना था। मगर पूरी योग्यता और व्यापक समर्थन के बावजूद अब भी स्थायी सदस्यता की बाट जोह रहा है। गौरतलब है कि स्थायी सदस्यता के मामले में भारत को दुनिया भर का समर्थन हासिल है, सिवाय चीन के। ताजा परिप्रेक्ष्य में ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद में विस्तार का समर्थन करते हुए कहा है कि भारत, जापान, ब्राजील समेत अफ्रीकी देशों को संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में स्थायी सीट दी जाए। इसमें दो राय नहीं कि पिछले सतहत्तर वर्षों से चली आ रही इस व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन की मांग अक्सर उठती रही है। दुनिया में कई बदलाव हुए हैं, मगर सुरक्षा परिषद पांच स्थायी सदस्यों- अमेरिका, ब्रिटेन, चीन, फ्रांस और रूस के अलावा दस अस्थायी सदस्यों के साथ यथावत बना हुआ है। अब परिवर्तन का समय आ चुका है।

सुरक्षा परिषद की स्थापना 1945 की भू-राजनीतिक और द्वितीय विश्वयुद्ध से उपजी स्थितियों को देखते हुए की गई थी, पर सतहत्तर वर्षों में पृष्ठभूमि अब अलग हो चुकी है। देखा जाए तो शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ ही इसमें बड़े सुधार की गुंजाइश थी, जो नहीं किया गया। पांच स्थायी सदस्यों में यूरोप का प्रतिनिधित्व सबसे ज्यादा है, जबकि आबादी के लिहाज से बमुश्किल वह पांच फीसद स्थान घेरता है। अफ्रीका और दक्षिण अमेरिका का कोई सदस्य इसमें स्थायी नहीं है, जबकि संयुक्त राष्ट्र का पचास प्रतिशत कार्य इन्हीं से संबंधित है। ढांचे में सुधार इसलिए भी होना चाहिए, क्योंकि इसमें अमेरिकी वर्चस्व दिखता है। सदस्यता के मामले में भारत की दावेदारी बहुत मजबूत दिखाई देती है। जनसंख्या की दृष्टि से चीन को पछाड़ते हुए पहला सबसे बड़ा देश, जबकि अर्थव्यवस्था के मामले में दुनिया में पांचवां, साथ ही प्रगतिशील अर्थव्यवस्था और जीडीपी की दृष्टि से भी प्रमुखता लिए हुए है। इतना ही नहीं, भारत को विश्व व्यापार संगठन, ब्रिक्स और जी-20 जैसे आर्थिक संगठनों में प्रभावशाली माना जा सकता है। भारत की विदेश नीति तुलनात्मक रूप से प्रखर हुई है और विश्व शांति को बढ़ावा देने वाली है। संयुक्त राष्ट्र की सेना में सबसे ज्यादा सैनिक भेजने वाले देश के नाते भी इसकी दावेदारी प्रबल है।

हालांकि भारत के अलावा कई और देश स्थायी सदस्यता के लिए नपे-तुले अंदाज में दावेदारी रखने में पीछे नहीं हैं। जी-4 समूह के चार सदस्य भारत, जर्मनी, ब्राजील और जापान, जो एक-दूसरे के लिए स्थायी सदस्यता का समर्थन करते हैं, ये

सभी इसके हकदार समझे जाते हैं। एल-69 समूह, जिसमें भारत, एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के बयालीस विकासशील देशों के एक समूह की अगुआई कर रहा है। इस समूह ने भी सुरक्षा परिषद में सुधार की मांग की है। अफ्रीकी समूह में चौवन देश हैं, जो सुधारों की वकालत करते हैं। इनकी मांग रही है कि अफ्रीका के कम से कम दो राष्ट्रों को वीटो शक्ति के साथ स्थायी सदस्यता दी जाए। इससे यह लगता है कि भारत को स्थायी सदस्यता न मिल पाने में चुनौतियां कहीं अधिक बढ़ी हैं। अगर भारत को इसमें स्थायी सदस्यता मिलती है, तो चीन जैसे देशों के वीटो के दुरुपयोग पर न केवल अंकुश लगेगा, बल्कि असंतुलन को भी पाटा जा सकेगा।

संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता को लेकर भारत बरसों से प्रयासरत है। अमेरिका और रूस समेत दुनिया के अनेक देश भारत की स्थायी सदस्यता के पक्षधर हैं। पर यह मामला अभी खटाई में बना हुआ है। गौरतलब है कि पिछले अमेरिकी राष्ट्रपति चुनाव से पहले भारत में राजदूत रह चुके रिचर्ड वर्मा ने कहा था कि अगर जो बाइडेन राष्ट्रपति बनते हैं, तो संयुक्त राष्ट्र जैसी अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं को नया रूप देने में मदद करेंगे, ताकि भारत को सुरक्षा परिषद में स्थायी सीट मिल सके। मगर इस दिशा में अभी कुछ ऐसा होता दिखा नहीं है। 4 जुलाई, 2023 को संयुक्त राष्ट्र में ब्रिटेन के स्थायी प्रतिनिधि बारबरा बुडवर्ड ने सुरक्षा परिषद के विस्तार का मुद्दा उठाने के साथ भारत समेत अन्य देशों की स्थायी सदस्यता की बात कहकर एक बार इस मामले को फिर फलक पर ला दिया है। फरवरी 2022 से रूस और यूक्रेन के बीच युद्ध जारी है। पश्चिमी देश इन हालात से निपटने में नाकाम रहे हैं, जबकि भारत ने इस मामले में कहीं अधिक सफल कूटनीतिक और राजनयिक नेतृत्व दिखाया है। भारत के इस बदले वैश्विक परिप्रेक्ष्य में उभरे नेतृत्व ने उसे दुनिया के केंद्र में खड़ा किया है। ऐसे में सुरक्षा परिषद में बहुत देर तक भारत को बाहर रखना वैश्विक हानि का संकेत है।

फिलहाल, भारत को स्थायी सदस्यता की आवश्यकता क्यों है और यह मिल क्यों नहीं रही है, इसके मार्ग में क्या बाधाएं हैं। माना जाता है कि जिस स्थायी सदस्यता को लेकर भारत इतना एड़ी-चोटी का जोर लगा रहा है वही 1950 के दौर में बड़ी आसानी से सुलभ थी। आवश्यकता की दृष्टि से देखें तो भारत का इसका सदस्य इसलिए होना चाहिए, क्योंकि सुरक्षा परिषद प्रमुख निर्णय लेने वाली संस्था है। प्रतिबंध लगाने या अंतरराष्ट्रीय न्यायालय के फैसले को लागू करने के लिए इस परिषद के समर्थन की जरूरत पड़ती है। ऐसे में भारत की चीन और पाकिस्तान से निरंतर दुश्मनी के चलते इसका स्थायी सदस्य होना चाहिए। चीन द्वारा पाकिस्तान के आतंकवादियों पर बार-बार वीटो करना इस बात को पुख्ता करता है। स्थायी सीट मिलने से भारत को वैश्विक पटल पर अधिक मजबूती से अपनी बात कहने की ताकत मिलेगी। स्थायी सदस्यता से वीटो पावर मिलेगा, जो चीन की काट होगी। इसके अलावा बाह्य सुरक्षा खतरों और भारत के खिलाफ सुनियोजित आतंकवाद जैसी गतिविधियों को रोकने में मदद भी मिलेगी।

भारत को स्थायी सदस्यता न मिलने के पीछे सुरक्षा परिषद की बनावट और मूलत: चीन का रोड़ा समेत वैश्विक स्थितियां हैं। वैसे चीन 'न्यूक्लियर सप्लायर ग्रुप' (एनएसजी) के मामले में भी भारत के लिए रुकावट बनता रहा है। गौरतलब है कि सुरक्षा परिषद में पांच स्थायी और दस अस्थायी सदस्य होते हैं। अस्थायी सदस्य देशों को चुनने का उद्देश्य सुरक्षा परिषद में क्षेत्रीय संतुलन कायम करना होता है। जबकि स्थायी सदस्य शक्ति संतुलन के प्रतीत हैं और इनके पास वीटो की ताकत है। इसी ताकत के चलते चीन दशकों से भारत के खिलाफ वीटो का दुरुपयोग कर रहा है।

संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता का मामला दशकों पुराना है। अगर अमेरिका जैसे देशों को इसे लेकर चिंता है तो सुरक्षा परिषद में बड़े सुधार को सामने लाकर भारत को उसमें जगह देनी चाहिए। बरसों पहले रूसी विदेश

मंत्री ने भी कहा था कि स्थायी सदस्यता के लिए भारत मजबूत देश है। वैसे देखा जाए तो दुनिया के कई देश भारत के साथ खड़े हैं, मगर नतीजा शून्य ही है। इसमें कोई दो राय नहीं कि दुनिया के बहुत सारे संगठन चाहे दक्षिण-एशियाई समूह सार्क या गुटनिरपेक्ष समूह समय के साथ मानो अप्रासंगिक से हो गए हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन से लेकर विश्व व्यापार संगठन पर भी समय-समय पर उंगली उठती रही है। संयुक्त राष्ट्र की उपादेयता पर भी सफलता और विलता की लकीर कमोबेश छोटी-बड़ी रही है। संदर्भ यह भी है कि किसी भी संगठन या परिषद को अगर सुधार और बदलाव से विमुख लंबे समय तक रखा जाए तो उसमें गैर-उपजाऊ तत्त्व स्वत: शामिल हो जाते हैं।

राष्ट्रीय सहारा

Date:15-07-23

भारत के लिए फ्रांस खास क्यों

डॉ. आर.के. सिन्हा

भारत-फ्रांस के बीच घनिष्ठ संबंधों की इबारत को नये सिरे से लिखने के इरादे से प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी फ्रांस की यात्रा पर हैं। वहां पर बैस्टिल डे परेड में सम्मानित अतिथि के रूप में शामिल होंगे। उनकी यात्रा के दौरान दोनों देश महत्वपूर्ण रक्षा और व्यापारिक समझौते पर मुहर लगाएंगे। भारतीय नौसेना के लिए फ्रांस के साथ 26 राफेल एम (मरीन) लड़ाकू विमानों का सौदा होने की उम्मीद है।

भारत फ्रांस और संयुक्त अरब अमीरात (यूएई) ने 8 जून को ओमान की खाड़ी में अपना पहला त्रिपक्षीय समुद्री अभ्यास सफलतापूर्वक संपन्न किया था। इसमें आईएनएस तरकश, फ्रांसीसी जहाज सुरकौफ, फ्रेंच राफेल विमान और यूएई नौसेना समुद्री गश्ती विमान की भागीदारी थी। इस अभ्यास में सतही युद्ध जैसे नौसेना संचालन का व्यापक स्पेक्ट्रम देखा गया जिसमें सतह के लक्ष्यों पर मिसाइल से सामरिक गोलीबारी और अभ्यास, हेलीकॉप्टर क्रॉस डेक लैंडिंग संचालन, उन्नत वायु रक्षा अभ्यास और बोर्डिंग संचालन शामिल थे। मोदी की यात्रा से ठीक पहले इस तरह के अभ्यास का उद्देश्य तीनों नौसेनाओं के बीच त्रिपक्षीय सहयोग को बढ़ाना और समुद्री वातावरण में पारंपरिक और गैर-पारंपरिक खतरों को दूर करने के उपायों को अपनाने का मार्ग प्रशस्त करना था। यह भी महत्वपूर्ण है कि भारत-फ्रांस रणनीतिक साझेदारी के इस साल 25 वर्ष पूरे हो रहे हैं।

आपको याद होगा कि प्रधानमंत्री मोदी ने 2016 में भारत की विदेश नीति बड़ा बदलाव तब किया था, जब उन्होंने फ्रांस के तत्कालीन राष्ट्रपति फ्रांसिस ओलांद की दिल्ली की जगह चंडीगढ़ में अगवानी की थी। मोदी से पहले के प्रधानमंत्रियों के दौर में विदेशों से भारत आने वाले राष्ट्राध्यक्ष और प्रधानमंत्री दिल्ली आते थे और उन्हें ज्यादा से ज्यादा आगरा में ताजमहल घुमा दिया जाता था। अब इन महत्वपूर्ण स्थानों में अहमदाबाद, बनारस, चंडीगढ़, बैंगलुरू और तमिलनाडु के मंदिर भी शामिल हो गए हैं। और भी कुछ शहर इस नीति का आने वाले वक्त में हिस्सा बनेंगे। ओलांद उस साल गणतंत्र दिवस समारोह के मुख्य अतिथि थे। ओलांद और मोदी के बीच चंड़ीगढ़ में विस्तार से गुफ्तुगू हुई थी। ओलांद का

भारत दौरा चंडीगढ़ से शुरू करने के पीछे एक वजह थी। दरअसल, चंडीगढ़ के डिजाइनर लॉ कार्ब्युजियर फ्रांस के ही नागरिक थे। यहां पर लॉ कार्ब्युजियर के सहयोगी प्रो. जेके चौधरी की चर्चा करना भी समीचिन होगा। प्रो. जेके चौधरी ने लॉ कार्ब्युजियर के साथ काम करके बहुत कुछ सीखा था। दोनों भारत तथा फ्रांस के आर्किटेक्चर पर लंबी चर्चा करते थे। इसमें कोई शक नहीं कि प्रो. चौधरी को फ्रांस के महान आर्किटेक्ट के साथ काम करने के बाद बड़े प्रोजेक्ट्स पर काम करने का ठोस अनुभव प्राप्त हुआ। दरअसल, आईआईटी से पहले दिल्ली में कोई इतने बड़े शिक्षण संस्थान का कैम्पस बना भी नहीं था। पर चंडीगढ़ के निर्माण के बाद उनके पास अनुभव पर्याप्त हो गया था। ओलांद की उसी यात्रा के समय फ्रांस ने भारत 33 राफेल लड़ाकू विमान देने का वादा किया था। राफेल की जद में पूरा पाकिस्तान आ जाता है, जिससे हमें यकीनन पाकिस्तान पर काफी बढ़त मिल जाती है। भारत को राफेल विमान मिलने भी लगे हैं।

अगर दोनों देशों के संबंधों के इतिहास पर नजर डालें तो ये सदियों पुराने हैं। 17वीं शताब्दी से 1954 तक फ्रांस ने भारत के पुडुचेरी में अपनी औपनिवेशिक उपस्थिति बनाए रखी थी। वहां पर अब भी फ्रांस की संस्कृति और इमारतों पर फ्रांस की वास्तुकला को देखा जा सकता है। बेशक,1998 में रणनीतिक साझेदारी की स्थापना के साथ राष्ट्राध्यक्षों/सरकारी प्रमुखों के स्तर पर नियमित उच्चस्तरीय आदान-प्रदान और रक्षा, परमाणु जैसे रणनीतिक क्षेत्रों सहित बढ़ते वाणिज्यिक आदान-प्रदान के माध्यम से द्विपक्षीय सहयोग के सभी क्षेत्रों में महत्वपूर्ण प्रगति हुई है।

प्रधानमंत्री मोदी की यह तीसरी फ्रांस यात्रा है। मान कर चलिए कि मोदी और फ्रांस के राष्ट्रपति इमैनुएल मैक्रॉन व्यापार और अर्थशास्त्र से लेकर ऊर्जा सुरक्षा, आतंकवाद विरोधी, रक्षा और सुरक्षा सहयोग और भारत-प्रशांत में सहयोग जैसे मुद्दों पर भी चर्चा करेंगे। यह भी लग रहा है कि फ्रांस ने पश्चिमी दुनिया में भारत के भरोसेमंद दोस्त और साझेदार के रूप में रूस की जगह ले ली है। भारत ने फ्रांस का तब से विशेष आदर करना शुरू कर दिया है, जब फ्रांस ने संयुक्त राष्ट्र में चीन द्वारा कश्मीर पर बुलाई गई बैठक में भारत के रुख का समर्थन किया था। फ्रांसीसियों ने पहले भी वैिक आतंकवादी मसूद अजहर पर संयुक्त राष्ट्र के प्रस्ताव का समर्थन किया था। पुलवामा हमले के बाद भारत ने कूटनीति के मोर्चे पर पाकिस्तान को पूरी तरह से अलग-थलग कर दिया था। इसी के कारण पुलवामा हमले की जिम्मेदारी लेने वाले आतंकी संगठन जैश-ए-मोहम्मद के चीफ मसूद अजहर पर प्रतिबंध लगाने के लिए संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन ने प्रस्ताव पेश किया था। फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन ने अपने प्रस्ताव में मसूद की वैिक यात्राओं पर प्रतिबंध लगाने और उसकी सभी संपत्ति फ्रीज करने की मांग भी की। यह सब यूं ही नहीं हो गया।

कहते हैं कि नेतृत्व की हनक के असर से आज मोदी ने वि को अपनी नेतृत्व क्षमता का मुरीद बना दिया है। किसे नहीं पता कि भारत अजहर मसूद को अपना दुश्मन नंबर एक मानता है। पंजाब के पठानकोट के एयरफोर्स बेस पर हुए हमलों जैश-ए-मोहम्मद के नेता अजहर मसूद का हाथ था। जैश भारत को क्षति पहुंचाने की हर मुमकिन कोशिश करता है। जैश को ताकत पाकिस्तानी खुफिया एजेंसी आईएसआई से मिलती है। आईएसआई पाकिस्तानी सेना का अहम अंग है। वह पाकिस्तानी सेना के इशारों पर ही काम करती है।

भारत-फ्रांस को आपसी संबंधों को मजबूती देते हुए दुनिया से आतंकवाद और अजहर मसूद जैसे मानवता के दुश्मनों को खत्म करना ही होगा। वैसे तो फ्रांस की हालिया सांप्रदायिक हिंसा उसका आंतरिक मामला है, जिस पर सामान्यत: चर्चा नहीं होती लेकिन, चूंकि, भारत पिछले 1946 से ऐसी सांप्रदायिक हिंसा का भुक्तिभोगी रहा है, और अब तक उनको असरदार ढंग से नियंत्रित भी करता रहा है, इसलिए फ्रांस इस मामले में भी भारत की अनौचारिक सलाह ले सकता है।

THE TIMES OF INDIA

Date:15-07-23

Our Moonshot

Isro's future successes will hugely impact India's future

TOI Editorials

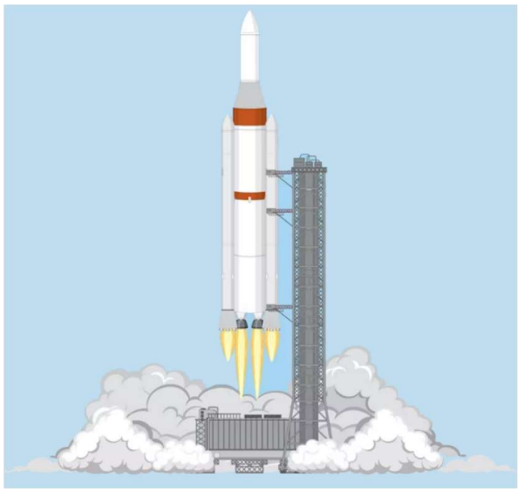

Isro's successful launch of Chandrayaan-3 to the desired orbit is a landmark event in India's and world's space history. Over the next 40 days all eyes and best wishes will be on the advanced manoeuvres that should lead up to a soft lunar landing. Chandrayaan-1 data had provided startling evidence of water on the moon. And if everything goes well, India will be the first nation to have achieved a controlled landing near the unexplored lunar south pole, which has a more challenging terrain. These are valuable bragging rights. But even more important will be the information and knowledge India's lunar rover will help scientists gain. Geopolitical competition should not obscure what is best about humanity's space ventures.

Half a century since any humans stepped onto the moon, the US and China are in a heated competition to put some back there again. In joining the US-led Artemis space collaboration pact India has chosen the sensible strategic side, where our broader interests are the tech and system learnings. Space and satellite exploration have delivered transformative advancements for India in communication, defence, agriculture, renewable energy and so much else. Isro's delivery of complexprojects on tiny budgets has won it global accolades. But despite how far we have come, the untapped potential remains vast. The business prospects alone in satellite manufacturing and launch are huge.

Geopolitics is having an impact here too, rendering Indian heavy-lift launchers more agreeable for many than the Russian and Chinese ones. Domestic reforms have helped by opening up the space sector to private players, to act as significant force multipliers. Startups are already multiplying, with goals ranging from launching satellites to processing the data delivered by them. Because what's out there is so important to the future down here, India is really counting on its space ventures.

Date:15-07-23

How Not To Measure Rule Of Law

Vague perception-based measures of justice in global surveys are of no use. India has quantifiable metrics to gauge legal reform but disregards these.

Bibek Debroy and Aditya Sinha, [Debroy is chairman and Sinha additional private secretary (research) of PM's Economic Advisory Council.]

Jurists find it difficult to pin down the expression Rule of Law (ROL). Every law student will quote British jurist Albert Venn Dicey, though ROL principles existed even in India. Rama speaking to Bharata in Valmiki Ramayana and Narada speaking to Yudhishthira in Mahabharata had elements of ROL. The idea is simple:

- Equality before law.
- Supremacy of law passed by legislature, not divine right.
- Impartial and transparent judicial procedures.

If ROL is such a simple idea, why do legal scholars grapple over it? The formal definition is clear. Laws must be consistent and certain, applied equally, with no special or differential treatment for select groups. That law must be known to everyone and not be applied retrospectively. These principles underlie many of India's court judgements, as elsewhere.

Confusion and complications arise when one tries to bung in other rights into these clear principles, and muddy the waters. For instance, people have argued democracy is part of ROL. If there is no consensus on ROL, how does one quantify and measure it? Some attempts made have been ROFL, not ROL.

World Bank has a set of Worldwide Governance Indicators (WGI), used to rank countries based on six heads. One is titled "rule of law". There are other heads on voice and accountability, political stability, control of corruption and so on. WGI defines it thus: "Rule of law captures perceptions of the extent to which agents have confidence in and abide by the rules of society, and… the quality of contract enforcement, property rights, police, and courts, as well as the likelihood of crime and violence. "

Thus, this ranking is perception-driven. The quote suggests WGI is about a formal interpretation of ROL. There are issues with sample size and design thatcharacterise Gallup World Poll, whose questions on confidence in police and judicial systems are used for WGI. Varieties of Democracy Project's Liberal Component Index is also plugged in.

In case purport isn't clear, WGI pretends to use formal definition of ROL, which is at least precise, but actually uses the extended one, which is vaguer. This is, of course, World Bank. Otherwise, such work wouldn't have been accepted by peer-reviewed journals, though they routinely accept papers that use WGI to run regressions.

World Bank is one such. World Justice Project (WJP) is another. This too has a cross-country index based on eight heads – (1) constraints on government powers; (2) absence of corruption; (3) open government;

(4) fundamental rights; (5) order and security; (6) regulatory enforcement; (7) civil justice; and (8) criminal justice.

Of these, (7) and (8) should be about the formal definition of ROL. There are objective indicators to gauge speed of justice delivery and access to justice. Instead, questions asked are whether civil justice is free of bribery and improper influence by private parties. Ditto for criminal justice. In other words, we are back to surveys.

World Bank or WJP, that's their right, to be monarchs of surveys. Often, we don't remember thesecond line in William Cowper's poem. "My right there is none to dispute. " Nor that the poem was about a castaway (Alexander Selkirk) on a desert island. If we are not on a desert island, we should be less interested in ranks based on subjective perceptions, and more in quantifiable metrics for justice delivery. Even if we don't dispute ranks, we shouldn't use them.

There is a centrally sponsored scheme implemented by Department of Justice (DOJ), in existence since 1993-94 and now extended till 2025-26. Since states lack resources and inclination, this assistance supports infrastructure for subordinate judiciary under the impressive sounding National Mission of Justice Delivery and Legal Reforms. DOJ on its website says, "The Rule of Law Index (ROLI) is developed and published by World Justice Project (WJP)…. DOJ is undertaking formulation and implementation of a reform action plan in order to improve India's ranking in ROLI. "

That was never the objective of the national mission launched in 2011 after a Vision Document in 2009. The objective was to reduce pendency from an average of 15 years to an average of three years. This should have been achieved by 2014. That is the reason the 13th Finance Commission (for 2010-15) made specific grants to judiciary.

No one remembers Chapter 12 of the Commission's report on grants-in-aid. That had specific numbers. Take morning, evening, special courts as an example. "It is expected that about 14,825 such courts can dispose of 225 lakh pending as well as freshly filed cases of a minor nature within a year. This aggregates to 1,125 lakh cases over the period 2010-15. "

Nothing of the sort has happened. Expenditure was conditional on improvement. Expenditure occurred, without conditions met. The word "rank" also has a negative nuance, in the sense of rancid. Cross-country ranks are rank. But the way we use them is also rank.